

मध्यमकावतार

आचार्य चन्द्रकीर्ति

प्रथम चित्तोत्पाद

हिंदी भाषा में-मध्यमकावतारभाष्य नामक(शास्त्र)

आर्यमंजुश्रीकुमारभूत को प्रणाम

सभी श्रावक (और) मध्यबुद्ध मुनीन्द्र (से) उत्पन्न हुए। बुद्ध बोधिसत्व से उत्पन्न हुए, करुणाचित्त,अद्वयमति और बोधिचित्त,सभी जिनपुत्रों के हेतु हैं।1।

क्योंकि करुणा ही जिनरूपी फसल की राशि का बीज और उसकी वृद्धि में जल की भांति,तथा दीर्घकाल तक उपयोग के लिए पके हुए की भांति मानी गयी है। इस कारण मैंने सर्वप्रथम करुणा की प्रशंसा की है।2।

पहले 'मैं' ऐसा (कहकर) अपने में अभिनिविष्ट होकर, बाद में 'यह मेरा है' ऐसा कहकर वस्तु पर राग उत्पन्न करने वाले रहट की गति की भांति स्वतंत्रता रहित, जगत पर जो करुणामय है, उसको प्रणाम है।3।

जगत के जल के भीतर चंद्रमा की भांति, चंचल और स्वभाव से शून्य दिखने के कारण, इस बोधिसत्व के चित्त की (जो) जगत की विमुक्ति के लिए करुणा के अधीन होकर।4।

समन्तभद्र प्रणिधान से परिणामना करके, प्रमुदितावस्था है वही प्रथम (भूमि) कही गई है,तब से लेकर वह उसकी प्राप्ति होने से,'बोधिसत्व'शब्द से ही अभिहित किया जाता है।5।

यह तथागतों के गोत्रों में भी उत्पन्न है, इसके सभी तीनों प्रयोगों को त्याग दिया है,वह बोधिसत्व श्रेष्ठ आनंद को धारण करता है, और सौ लोकधातुओं को पूर्णतः हिलाने की शक्ति भी रखता है।6।

भूमि से भूमि पार करके ऊपर की ओर जायेगा, तब इसके सभी दुर्गति मार्गों का पूर्णरूप से निरोध होगा,तब इसकी सभी प्रथग्जन भूमियाँ पूर्णतः समाप्त होंगी, जैसा यह अष्टम आर्य है वैसा ही बतलाया गया है।7।

प्रथम बोधिचित्तोदय की अवस्था में ही, प्रत्येक बुद्धों को मुनीन्द्र की वाणी से उत्पन्न, (श्रावकों) के सहित पराजित करके सम्भार की शक्ति से बढ़ता जाता है, उसकी दूरंगमा भूमि की बुद्धि भी सबसे बढ़कर होगी।8।

उस समय उसको सम्बोधि का प्रधान, तथा अतिशायी हेतु दान ही होगा।स्वमांस दान में भी आदरभाव रखने से वह, अदृष्ट के अनुमान हेतु भी हो जाता है।9।

ये सभी लोग सुख की अभिलाषा करते हैं, किन्तु सभी लोगों को सुख भी विना संपत्ति के नहीं मिलता है, सम्पत्ति को भी दान से उत्पन्न जान करके, मुनि ने प्रथम दान की बात कही।10।

जो करुणाशील और अधिक दुष्ट चित्त वाले लोग, स्वार्थ के लिए ही परिश्रम करते हैं, उनके दुःख के नाश का हेतुभूत, अभीष्ट ऐश्वर्य दान से उत्पन्न हुआ है।11।

उसका भी दान के समय में कभी शीघ्र, आर्य जनों से मिलन होगा और, उसके भवसन्तति को सम्यक रूप से अवरुद्ध करके, उसके फलस्वरूप शान्ति प्राप्त करेगा।12।

जगत के कल्याण की प्रतिज्ञा किये हुए प्राणी, दान के कारण शीघ्र ही आनंद प्राप्त करते हैं, क्योंकि करुणामय (बोधिसत्त्व) और निष्करुणा (साधारणव्यक्ति), मूलदान का विषय ही है।13।

“दीजिये” इस प्रकार के शब्द (याचक से) सुनकर सोचने पर, जिनपुत्रों को जैसा सुख उत्पन्न होता है वैसा सुख, निर्वाण में प्रतिष्ठित मुनियों को भी प्राप्त नहीं होता, फिर सर्वस्वसमर्पित कर देने पर तो कहना ही क्या।14।

शरीर को काटने देकर अपने दुःख से, दूसरों को नरक आदि के दुःख अपने ऊपर ही देखकर, वे (बोधिसत्त्व) (नरक के दुखों) को नष्ट कर देने, के लिए और भी शीघ्र परिश्रम प्रारंभ करते हैं।15।

दान देने की वस्तु, लेने वाले और दायक से शून्य (दान को) पारलौकिक पारमिता कहा गया है, तीनों में राग उत्पन्न होने से उसको, लौकिक पारमिता कहा गया है।16।

उस प्रकार (के गुण) जिनपुत्र के मन में रहते हैं, परम आश्रय (बोधिसत्त्व) में सुन्दरप्रभा प्राप्त, यह मुदिता चंद्रकांतमणि को नष्ट करके प्रभावशाली होती है।17।

मध्यमकावतार के भाष्य का प्रथम प्रमुदिता चित्तोत्पाद समाप्त।

द्वितीय चित्तोत्पाद

वह(द्वितीय चित्तोत्पाद वाले बोधिसत्व) शीलसंपद के गुणों से युक्त होने के कारण.स्वप्न में भी दुःशीलमल को त्याग देता है,काय-वाक्-चित्त के व्यवहार शुद्ध होने से,दसों उत्तम कर्म मार्गों का संग्रह करता है।11।

इस प्रकार के दसो कुशल-मार्गों को मिलाकर शुद्धतर हो जाते हैं,जैसे की शरद चंद्रमा सदा विशुद्ध होने पर भी, शान्त प्रभा से युक्त हो जाने के कारण और अधिक सुन्दर हो जाता है।2।

यदि वह अपने में शुद्धशील स्वभाव होने की द्रष्टि रखता है,तब वह शुद्ध शुद्ध शीलवाला नहीं होगा, अतः वह तीनों पर भी सदा बुद्धिद्वय के, व्यवहार से सम्यक निर्वृत हो जाता है।3।

जिस व्यक्ति के शील जे पांच भंग होते हैं, वह दान से भोगों को प्राप्त करके दुर्गति में पड़ता है, ब्याज सहित मूल के पूर्णतः क्षीण हो जाने के कारण तत्पश्चात,उसको संपत्ति प्राप्त नहीं होगी।4।

जब स्वतंत्र निष्ठा एवं अनुकूलता की स्थिति है,तब अगर यह आत्मचिंतन नहीं करता है तो,गड्ढे में गिरने पर पराधीनता की दशा में, उसको भविष्य में कौन उठायेगा?।5।

इसलिए बुद्ध ने दान के विषय में कहकर,शील के अनुगत दान की ही चर्चा की है,गुण शील की भूमि पर बढ़ता है तो,फल भोग अनवच्छिन्न होता है।6।

प्रथग्जन,वाणी से उत्पन्न स्वबोधि के स्वभाव में निष्ठ लोग और,जिनपुत्रों के लिए शील के अतिरिक्त निःश्रेयस तथा अभ्युदय का हेतु नहीं है।7।

जैसे समुद्र लाश के साथ और,मंगल अशुभ के साथ(नहीं) रहते,उसी प्रकार शील से अधिकृत महात्मा, दुःशील के संग रहने की इच्छा नहीं करता।8।

किसने,क्या कहाँ त्यागा है,(इन) तीनों पर अवलम्बित हो तो उस शील को लौकिक पारमिता कहा गया है,तीनों से आसक्ति न रहने पर वह अलौकिक (शील पारमिता) कही जाती है।9।

जिनरूपी चंद्रमा से उत्पन्न, भव न होते हुए भी,संसार की श्रीमलरहित यह विमला(भूमि) भी शरद ऋतु की चन्द्रप्रभा की भांति जगत के मन के,दुखों को दूर करती है।10।

मध्यमकावतार के भाष्य का विमला द्वितीय चित्तोत्पाद समाप्त।

तृतीय चित्तोत्पाद

समस्त ज्ञेय रूपी इंधन को जलाने वाली अग्नि की प्रभा प्राप्त होने के कारण यह तृतीया भूमि प्रभाकरी, उस सुगत पुत्र को उस समय तांबे की भांति, सूर्य का अवभास होता है।11।

क्रोध के अपात्र(बोधिसत्व) को यदि कोई व्यक्ति, उसके शरीर से हड्डी सहित मास दीर्घसमय तक, एक-एक टुकड़ा काटता रहता है तो भी उस(बोधिसत्व) की क्षान्ति उस काटने वाले के प्रति, विशेष रूप से उत्पन्न होती है।2।

नैरात्मद्रष्टि(वाले) बोधिसत्व को, सभी धर्म प्रतिबिम्ब की भांति द्रष्टिगोचर होते हैं, अतः किसने, किसको, कब और कैसे काटा, वह(सब) सहन करता है।3।

यदि इस अपकारी पर कोप किया जाता है तो, क्या उस पर कोप करने से उसका परिहार हो जायेगा? अतः निश्चित रूप से न केवल इस(जन्म) में, कोप करना व्यर्थ है, अपितु दूसरे जन्म में भी विपरीत ही है।4।

पहले किये गए अकुशल कर्म के फल को समाप्त करने की इच्छा रखता हूँ ऐसा कहने वाले के लिए दूसरों(के प्रति की गयी) हानि और(उस पर किये गए) क्रोध से दुःख(ही उत्पन्न होने) के कारण(अकुशल कर्म की फल समाप्ति का) बीज कैसे बन सकता है।5।

अक्षान्ति के अतिरिक्त और पाप नहीं हैं, क्योंकि जिनपुत्रों पर क्रोध से दान और शील से उत्पन्न शत कल्पों तक एकत्रित किये हुए पुण्य क्षण में नष्ट हो जाते हैं।6।

अदर्शनीय रूपवाला और असत्पुरुषों से, चालित तथा उचित और अनुचित के ज्ञान के विवेक से रहित होता है, अक्षान्ति के कारण शीघ्र दुर्गति में पड़ता है, यथोक्त क्षान्ति से विपरीत गुण होते हैं।7।

क्षान्ति से सुन्दरता होगी और उत्तम पुरुष के रूप में जन्म होगा, उचित और अनुचित की जानकारी में कुशलता होगी, तत्पश्चात् देव और मनुष्य के रूप में उत्पन्न होने से उसके पाप समाप्त होंगे।8।

प्रथमजन्म और जिनपुत्र को क्रोध और क्षान्ति के दोष तथा गुण जानकर अक्षान्ति को त्यागकर आर्य पुरुष द्वारा प्रशंसित क्षान्ति का सदा शीघ्र पालन करना चाहिए।9।

सम्बुद्ध की बोधि के लिए की गयी परिणामना का भी,अगर तीनों पर अवलम्बन हो तो वह लौकिकी होगी,अवलम्बन रहित हो तो उसको,बुद्ध ने अलौकिक पारमिता कहा है।10।

उस भूमि पर जिनपुत्र को ध्यान और अभिज्ञा(प्राप्त होते हैं)तथा राग और द्वेष पूर्णरूप से समाप्त हो जाते हैं,वह भी सदा के लिए लौकिक काम राग,नष्ट करने में सक्षम हो सकते हैं।11।

दानादि इन तीनों धर्मों की सुगत ने मुख्यतः गृहस्थों के लिए प्रशंसा की है,पुण्य नामक सम्भार भी वही हैं और,बुद्ध के रूपस्वभाव काय के हेतु हैं।12।

जिनपुत्र सूर्य में अवस्थित यह प्रभाकारी,सर्वप्रथम अपने में स्थित अन्धकार को नष्ट करती है, फिर जगत के अंधकार को नष्ट करने की इच्छा रखती है, इस भूमि पर अधिक तेज होने पर भी क्रोध नहीं होता है।13।

मध्यमकावतार भाष्य का प्रभाकारी तृतीयचित्तोत्पाद समाप्त हुआ।

चतुर्थ चित्तोत्पाद

सभी गुण वीर्य के अनुगत हैं और पुण्य,ज्ञान दोनों सम्भारों के हेतु हैं, जहाँ पर वीर्य की तेजी होती है, वह चतुर्थ भूमि अर्चिष्मती है।1।

वहाँ तो सुगतपुत्र की सम्बोधिपक्ष की विशेष भावना से उत्पन्न अवभास,ताम्र की प्रभा से भी अधिक होती है,आत्मद्रष्टि से सम्बद्ध भी पूर्णतः नष्ट हो जाता है।2।

मध्यमकावतार भाष्य का अर्चिष्मती नामक चतुर्थचित्तोत्पाद समाप्त हुआ।

पञ्चम चित्तोत्पाद

सुदुर्जया भूमि पर स्थित वह महात्मा,सभी मारों द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता,ध्यान की विशेषता होती है(और) सुमति(आर्य) सत्य के सूक्ष्म स्वभाव को जानने में भी दक्ष होता है।1।

मध्यमकावतार भाष्य का सुदुर्जया नामक चतुर्थचित्तोत्पाद समाप्त हुआ।

छठा चित्तोत्पाद

भूमि का निर्वचन एवं प्रज्ञापारमिता की विशेष देशना

अभिमुखी(छठवीं भूमि की प्राप्ति) के लिए समाहित,चित्त में स्थित होकर सम्यक(सम्बुद्ध) के धर्मों के प्रति अभिमुख,यह(बोधिसत्त्व) प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी इस तत्व को देखता है,और प्रज्ञा में स्थित हो,निरोध को प्राप्त होता है।11।

प्रज्ञापारमिता की प्रशंसा

जैसे एक चक्षुष्मान व्यक्ति समस्त अंधों के समूह को,सरलतापूर्वक इष्ट प्रदेश में ले जाता है, यहाँ भी बुद्धि(प्रज्ञा) चक्षुर्विहीन(पांच पारमिताओं के),गुणों को ग्रहण कर जिनत्व पद प्राप्त करता है।2।

गम्भीरार्थ कथन हेतु प्रतिज्ञा

जैसे उस(छठी भूमि प्राप्त बोधिसत्त्व) ने आगम व अन्य युक्तियों द्वारा अति गम्भीर धर्म का अवबोध किया है,उसी प्रकार आर्य नागार्जुन की शास्त्र परम्परा में जैसे स्थित है,उनके मतानुसार कहूँगा।3।

गम्भीरार्थ कथन हेतु पात्र की पहचान

प्रथग्जन की अवस्था में भी शून्यता के श्रवण से,जिसके अन्दर बारम्बार अति प्रसन्नता उत्पन्न होती है, अत्यंत प्रसन्नता से उत्पन्न आँसुओं से आँखें भीग जाती हैं,और जिसके शरीर के रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।4।

उसमें सम्बुद्ध बुद्धि(प्रज्ञा) का बीज होता है,तत्व उपदेश का पात्र भी वही होता है,उसके लिए परमार्थ सत्य की देशना की जानी चाहिए,उसमें उस(शून्यता)के अनुगमन वाले गुणों का उत्पाद होता है।5।

नित्य सम्यग् शील को धारण कर स्थित होता है, दान चर्या करता है तथा करुणा का सेवन करता है,क्षान्ति की भावना करता है,उन कुशलों की जगत के उद्धार के लिए बोधि में परिणामना करता है।6।

योग्य पात्र को प्रेरित करना

सम्यक बोधिसत्त्वों का आदर करता है, गम्भीर एवं उदार विधि में कुशल पुरुष तो क्रमशः, प्रमुदिता भूमि को प्राप्त होगा, अतः वह उस (प्रमुदिता भूमि) का अभिलाषी होने से इस मार्ग का श्रवण करें।⁷

वही उससे उत्पन्न नहीं है, तब परतः कैसे होगा? उभयतः भी नहीं है, अहेतु से उत्पाद कैसे होगा? अतएव उसके (पुनः) उत्पाद होने में कोई गुण नहीं है, क्योंकि (जो) उत्पन्न है, उसका पुनः उत्पाद युक्तियुक्त भी नहीं है।⁸

यदि उत्पन्न के पुनः उत्पाद की परिकल्पना होती है, अंकुर का उत्पाद यहाँ प्राप्त नहीं होगा, और भवान्त पर्यंत बीज का उत्पाद (सदैव) होता रहेगा, वही (अंकुर) उस (बीज) का विनाश कैसे करेगा।⁹

आपके मत में कारण हेतु-बीज से भिन्नकर्म अंकुर के, स्थान, वर्ण, रस, शक्ति एवं विपाक नहीं होते हैं यदि पूर्व (बीज) के आत्म-भाव का निराकरण कर उससे अन्य स्वरूप वाला हो जाये, तब उसका (अंकुर का स्वभाव) वही (बीज स्वभाव) कैसे होगा?।¹⁰

यदि आपका बीज और अंकुर यहाँ अन्य नहीं हैं, तब बीज की भांति वह अंकुर भी अग्राह्य हो जायेगा, अथवा यदि वे एक हैं, तब जैसे अंकुर हैं उसी भांति वह (बीज) भी ग्राह्य हो जायेगा, किन्तु यह तो अस्वीकार्य है।¹¹

जिस हेतु का विनाश होता है, उसका फल भी दिखलाई देता है, वे (बीज व अंकुर) दोनों एक हैं, ऐसा लोक भी स्वीकार नहीं करता है, इसलिए भाव स्वतः उत्पन्न हैं, ऐसा (सांख्य द्वारा) परिकल्पित यह मत परमार्थ एवं लोकव्यवहार में भी युक्तिसंगत नहीं है।¹²

यदि स्वतः उत्पाद मानते हैं, तो फल एवं हेतु तथा कर्म कर्ता भी एक ही जो जायेंगे, किन्तु दोनों, का एकत्व नहीं है, अतः स्वतः उत्पाद स्वीकरणीय नहीं है, विस्तार से उक्त दोष का प्रसंग होगा।¹³

अन्य (हेतु-प्रत्यय) की अपेक्षा से यदि 'पर' का उत्पाद होता है तो फिर अग्नि के स्फुलिंग से भी, घने अंधकार के उत्पाद का प्रसंग हो जायेगा, और सबसे सबका उत्पाद होने लगेगा, क्योंकि, अशेष अजनक में भी परत्व तुल्य हो जायेगा।¹⁴

भली-भांति क्रिया (उत्पाद) करने की शक्ति होती है, इसलिए फल को नियत कहा गया है, उसमें उस (फल) के उत्पाद का सामर्थ्य है, वह तो पर (अन्य) होने पर भी हेतु है तथा एक संतति के अंतर्गत है एवं उत्पाद से उत्पन्न है, अतः शालि के अंकुर का गेहूँ आदि से वैसा (उत्पाद) नहीं होता है, यदि ऐसा कहें तो-।¹⁵

यथा यव,केसर तथा किंशुक आदि द्वारा शालि के अंकुर का उत्पाद नहीं माना जाता है,क्योंकि(उनमें) सामर्थ्य नहीं है, एक संतान अंतर्गत नहीं है और साद्रश्य भी नहीं है,ठीक उसी प्रकार शालि का बीज भी उन(शालि-अंकुर के उत्पादक आदि तीन विशेषणों) से(विशिष्ट) नहीं है,क्योंकि पर है।16।

अंकुर और बीज समान काल में विद्यमान नहीं होते हैं,अंकुर के अभाव में बीज पर कैसे होगा? अतएव,बीज से अंकुर का उत्पाद सिद्ध नहीं होने के कारण, 'परतः उत्पाद' होता है, अर्थात इस पक्ष को छोड़ देना चाहिए।17।

अंकुर बीज के साथ समान काल में विद्यमान नहीं होते हैं, फल एवं हेतु दोनों का उत्पाद-निरोध (एक काल में) हो जायेगा,यदि ऐसा कहें तो,यदि ऐसा कहें तो एक काल नहीं है,अर्थात विद्यमान नहीं है।18।

यदि जिस (अंकुर) का उत्पाद हो रहा है,वह उत्पन्न होने की दिशा में अभिमुख है,अतः विद्यमान नहीं है तथा जिसका निरोध हो रहा है वह विद्यमान होने पर भी विनाश अभिमुख है, ऐसा माना जाता है।तब(बीज और अंकुर) यह किस प्रकार तराजू के पलड़ों के सद्रश है?

यदि उत्पाद(अंकुर के उत्पाद की क्रिया) तो कर्ता(स्वयं अंकुर) के अभाव में युक्तियुक्त स्वभाव वाला भी नहीं है।19।

यदि चक्षुर्विज्ञान में हेतु से एक काल में चक्षु आदि के साथ सह-उत्पन्न(वेदना) संज्ञा आदि(चैतसिक) से परत्व विद्यमान है, तो विद्यमान का(पुनः) उत्पाद से क्या प्रयोजन है? यदि कहें कि वह नहीं है, तो इस प्रसंग में दोष कहे जा चुके हैं।20।

यदि वह जनक अन्य जन्य का उत्पादक होने से हेतु है,सदसत् दोनों या फिर दोनों से रहित किसी(भाव) का उत्पाद करेगा, यदि सत् है तो जनक का क्या प्रयोजन है और यदि असत् है तो वह(हेतु) क्या करेगा? दोनों होने पर वह क्या करेगा तथा दोनों से रहित होने पर भी वह क्या करेगा?।21।

जिस (कारण) से स्वद्रष्टि में स्थित को लोक(प्रत्यक्ष) प्रमाण मानते हैं, अतः यहाँ युक्तिवादियों की द्रष्टि की क्या आवश्यकता है? पर से पर(कार्य) के उत्पाद को भी लोक द्वारा जाना जाता है, अतः परतः उत्पाद होने में यहाँ युक्ति की क्या आवश्यकता है।22।

सम्यग् एवं मिथ्या दर्शन द्वारा उपलब्ध, समस्त भाव दो स्वभाव को ग्रहण करते हैं। जो सम्यग् दर्शन का विषय है, वह परमार्थ है, तथा मिथ्या दर्शन को संवृतिसत्य के रूप में कहा गया है। 23।

मिथ्याद्रष्टि भी द्विविधि मानी जाती है, दीप्त-इन्द्रिय एवं दूषित इन्द्रिय से युक्त। दोषयुक्त इन्द्रिय वालों का ज्ञान तो दोषरहित इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा से मिथ्या माना जाता है। 24।

दोषरहित षड् इन्द्रियों द्वारा, किसी ग्राह्य(वस्तु) का लोक द्वारा अवबोध किया जाता है। (तब वह) लोक ही(की अपेक्षा) से सत्य है, शेष तो लोक द्वारा ही मिथ्या रूप में व्यवस्थित है। 25

जिस प्रकार अज्ञान(अविद्या) निद्रा द्वारा क्षुभित(कम्पित), तैर्थिकों की आत्मा ही समारोपित है, उसी प्रकार माया, मरीचि आदि रूप में जो समारोपित हैं, वे लोक की अपेक्षा से भी सत्य नहीं हैं। 26।

जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त व्यक्ति के चक्षु द्वारा उपलब्ध(ज्ञान) से अतैमिरिक का ज्ञान बाधित नहीं होता है, उसी प्रकार जिन्हें अमल ज्ञान प्राप्त नहीं है, उनकी बुद्धि द्वारा विमलबुद्धि(का ज्ञान) बाधित नहीं होता है। 27।

संवृतिसत्य

स्वभाव को आवृत करने के कारण मोह ही संवृति है, जिसको कृत्रिम सत्यतः ख्यापित होता है, उसे ही मुनि (भगवान बुद्ध) ने संवृतिसत्य कहा है, अर्थात् कृत्रिम भूत पदार्थ तो संवृति है। 28।

परमार्थ सत्य

तिमिररोग के प्रभाव से विकल्पित केशोण्डुक(केशों का गिरना) आदि जो मिथ्या स्वभाव हैं, उसी स्वभाव को जब शुद्ध चक्षुश्मान(व्यक्ति) देखता है, उसे ही यहाँ तत्व जानना चाहिए। 29।

यदि लोक प्रमाण है, तब लोक ही तत्वदर्शी होने के कारण अन्य आर्यजनों द्वारा क्या किया जायेगा? आर्यमार्ग का क्या कार्य होगा? मूर्ख प्रमाण के रूप में युक्त भी नहीं हैं। 30।

सभी प्रकार से लोक प्रमाण नहीं हैं, इसलिए तत्व-अधिकार में लोक की बाधा नहीं होती है, यदि लौकिक पदार्थ का लोक प्रसिद्धि द्वारा ही निराकरण हो जाता है, तो लोक से ही बाधा हो जाएगी। 31।

जिस प्रकार लोक बीज मात्र का रोपण करके,मैंने इस पुत्र का उत्पाद किया,ऐसा कहता है,वृक्षारोपण भी किया है, इस प्रकार की कल्पना से परतः उत्पाद लोक में भी नहीं होता है।32।

अंकुर बीज से अन्य नहीं है,इसलिए अंकुर की अवस्था में बीज का विनाश नहीं है,दोनों में एकत्व नहीं है,इसलिए अंकुर की अवस्था में बीज विद्यमान है,ऐसा नहीं कहा जायेगा।33।

यदि स्वलक्षण प्रतीत्य होगा तो, उसके प्रति अपवाद से भावों का विनाश हो जायेगा।यदि शून्यता भावों के विनाश का हेतु हो जाये, तब वह तो युक्तिसंगत नहीं है, अतः भाव(स्वभावतः) सत्य नहीं हैं।34।

क्योंकि इन भावों की परीक्षा किये जाने पर परमार्थ भावों से(अतिरिक्त) व्यवहार में भी,विद्यमानता प्राप्त नहीं होती है, अतः लोक में, व्यवहारसत्य की परीक्षा नहीं की जानी चाहिए।35।

तत्त्व की अवस्था में जिस युक्ति से,स्वतः एवं परतः उत्पाद युक्तिसंगत नहीं है, उस युक्ति से व्यवहार में भी युक्तिसंगत नहीं है, अतः तुम्हारा उत्पाद किससे सिद्ध होगा?36।

वस्तुओं की शून्यता,प्रतिबिम्ब आदि(हेतु-प्रत्यय)सामिग्रियों की अपेक्षाएं अप्रसिद्धि भी नहीं हैं, जैसे वहां प्रतिबिम्ब आदि की शून्यता से,उस ज्ञान के आकार में उत्पाद होने की भांति है।37।

उसी प्रकार समस्त भाव शून्य होने पर भी शून्यता से भली-भांति उत्पन्न होते हैं,दोनों सत्यों में भी स्वभावरहितता के कारण, वे न शाश्वत हैं,न ही उच्छिन्न।38।

आलयविज्ञान का निषेध

स्वभाव से उस(कर्म) का निरोध नहीं होता है,आलयविज्ञान के बिना भी इसमें सामर्थ्य होता है, कुछ कर्म निरुद्ध होकर समय बीत जाने पर भी,सम्यग् फल का उत्पाद करते देखे जाते हैं।39।

स्वप्न में उपलब्ध विषयों को देखकर,जागने पर भी मूर्खों में रागोत्पत्ति होती है, उसी प्रकार निरुद्ध एवं स्वभावतः असत् कर्मों से भी फल(उत्पाद) होता है।40।

जिस प्रकार विषय के असत्य होने के साद्रश्य होने पर भी,तैमिरिक व्यक्ति केशोण्डुक को देखता है अन्य वस्तुओं के आकार को नहीं देखता,विपाक से पुनः विपाक का न होना जानना चाहिए।41।

अशुभ कर्म से अशुभ विपाक,शुभ कर्म से शुभ-विपाक ही दिखलाई पड़ते हैं,शुभ-अशुभ दोनों से रहित धीमान मुक्त होता है,कर्मों के फलों के प्रति चिंता का निषेध किया है।42।

आलय की सत्ता है,पुद्गल की सत्ता है, केवल इन स्कंधों की सत्ता होती है-ऐसी जो देशना की है, इस प्रकार के अति गंभीर(शून्यता) के अर्थ को समझने में असमर्थ लोगों के लिए की गयी है।43

सत्कायद्रष्टि से रहित होने पर भी बुद्ध ने जिस प्रकार आत्म-आत्मीय की देशना की, तथैव स्वभावतः भावों की(सत्ता) न होने पर भी,सत् हैं,ऐसी नेयार्थ में देशना की है।44।

विशेषतः विज्ञानवादी मत का निषेध(निर्बाह्यार्थ एवं चित्त की स्वभावतः सिद्धि का निषेध)

ग्राह्य के अभाव से ग्राहक दिखाई नहीं देता है,क्योंकि तीनों लोकों का विज्ञानमात्र में बोध करते हैं अतः वह अभिमुखी(छठी भूमि का) बोधिसत्व,विज्ञानमात्र में तत्त्व का बोध करता है।45।

जिस प्रकार वायु से प्रेरित समुद्र में विशाल तरंगे उत्पन्न होती है,उसी प्रकार(संसार-निर्वाण),सभी का बीज आलयविज्ञान होता है,अपने सामर्थ्य के अनुसार विज्ञानमात्र का उत्पाद होता है।46।

इस प्रकार जो परतंत्र स्वभाव है,वह भावों के परिकल्पित होने का हेतु होता है, बाह्य ग्राह्य के बिना उत्पन्न होता है,सत् एवं समस्त प्रपंच अविषय स्वरूप हैं।47।

स्वप्न के द्वारा चित्त की स्वभावसत्ता की असिद्धि

बाह्य(अर्थ) के अभाव में चित्त का उदाहरण कहाँ है?,यदि कहें कि स्वप्न की भांति है तो उसका चिंतन करना चाहिए,जब मेरे सिद्धांत में स्वप्न में भी चित्त सत् नहीं है,तब तुम्हारी उपमा भी लागू नहीं होती है।48।

यदि जागने पर स्वप्न के स्मरण से चित्त की सत्ता मानी जाये,तब बाह्य विषय भी उसी प्रकार हो जायेंगे,जिस प्रकार तुम्हें स्मरण होता है,कि “मैंने देखा”, उसी भांति बाह्य में भी संभव है।49।

नींद में चक्षुर्विज्ञान असंभव होने से यदि कहें कि नहीं होते हैं,केवल मनोविज्ञान होता है,उसी आकार में बाह्य के रूप में ही अभिनिवेश होता है,स्वप्न उसी प्रकार यहाँ भी मानना पड़ेगा।50।

जिस प्रकार तुम बाह्य वस्तुओं का स्वप्न में,उत्पाद नहीं मानते हो,वैसे ही मन भी उत्पन्न नहीं, चक्षु,चक्षु का विषय एवं उससे,उत्पन्न चित्त सभी तीनों भी मिथ्या हैं।52।

श्रोत्रआदि शेष में भी विषय,इन्द्रिय,विज्ञानका उत्पाद नहीं होता है,स्वप्न तथा यहाँ जाग्रत अवस्था में भी,वस्तुएं मिथ्या हैं,वह चित्त विद्यमान नहीं है,गोचर विषय नहीं है,इन्द्रियां भी नहीं हैं।52।

जैसे यहाँ(संसार में) जाग्रतावस्था में(प्राप्त होता है),उसी भांति जब तक नींद से जागरण नहीं होता है,तब तक उसमें तीनों(विषय, इन्द्रिय,विज्ञान) होते हैं,जगाने पर तीनों की सत्ता न होने की भांति,संमोह निद्रा से जागने पर भी उसी की भांति है।53।

केशोण्डुक दर्शन के द्रष्टान्त का निषेध

तिमिर से युक्त इन्द्रियों से उत्पन्न जिस बुद्धि द्वारा तिमिर के प्रभाव से केशों का जो गिरना देखा जाता है,उसकी बुद्धि की अपेक्षा से दोनों(विषय-विषयी) सत्य हैं,किन्तु अर्थ के स्पष्ट द्रष्टा के लिए दोनों ही मिथ्या हैं।54।

यदि ज्ञेय के अभाव में बुद्धि हो तो उस केश के विषय के साथ चक्षु का अनुबंध होने के कारण,तिमिर विहीन में भी केशोण्डुक बुद्धि हो जायेगी,किन्तु वैसा नहीं है,वह नहीं होता है।55।

शुद्धदृष्टि वालों में बुद्धि की शक्ति का विपाक नहीं होता है,इसलिए उनमें वैसी बुद्धि का उत्पाद नहीं होता है, अतः ज्ञेय 'सद' भाव न होने से नहीं होती है,तब उस सामर्थ्य में यह तो सिद्ध नहीं होता है।56।

उत्पन्न में(उत्पाद की) शक्ति संभव नहीं है,अनुत्पन्न स्वभाव में भी शक्ति(संभव) नहीं है,विना विशेष्य के विशेषण संभव नहीं होता है,बंध्यापुत्र में भी उस के होने का प्रसंग होगा।57।

यदि भविष्य में(उत्पाद) होने के कारण कहना इष्ट है,तो शक्ति के अभाव में इस(विज्ञान) का होना(उत्पाद) नहीं होगा,परस्पर अर्थ में आश्रित होकर सिद्धि को तो असिद्धि ही है, ऐसा सन्तपुरुषों ने कहा है।58।

(विज्ञानवादी) यदि निरुद्ध(अतीत विज्ञान) की शक्ति के विपाक से(विषय) होंगे,तो अन्य की शक्ति से अन्य(विज्ञान)का उत्पाद होने लगेगा,वहाँ संततियां परस्पर भिन्न रूप में विद्यमान होती हैं,अतएव,सबसे सबका उत्पाद हो जायेगा।59।

यदि वहाँ(अन्य से अन्य का उत्पाद)तो भिन्न संतति होने के कारण उन में संतति भिन्न नहीं है यदि कहें की दोष नहीं है,यह तो एक साध्य है,अभिन्न संतति की अवस्था युक्तिसंगत नहीं है।60

मैत्रेय एवं उपगुप्त में आश्रित धर्म तो परत्व होने के कारण वे एक संतति के अन्दर नहीं आते हैं, जो(धर्म) स्वलक्षणतया प्रथम-2 हैं,उन्हें एक संतति के अंतर्गत मानना युक्तिसंगत नहीं है।61।

चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद अपनी किसी शक्ति से समनंतर रूप में होता है और अपने विज्ञान-आधार की उस शक्ति का रूपी-इन्द्रिय, चक्षु के रूप में बोध करता है।62।

इन्द्रियों से उत्पन्न विज्ञप्तियाँ बाह्य ग्राह्य के अभाव में स्व बीज से नीलादि के रूप में प्रभासित होती है, इसे न जानकर प्रथग्जन बाह्य(अर्थ) को ग्रहण करने के लिए चित्त को स्वीकार करते हैं।63।

जिस प्रकार स्वप्न में रूपी अर्थ अन्य नहीं हैं, स्व शक्ति के विपाक से उस(रूप आदि) के आकार से युक्त चित्त का उत्पाद होता है, उसी प्रकार जाग्रत होने पर यहाँ बाह्य के अभाव में भी चित्त तो विद्यमान है, यदि ऐसा कहें? 164।

चक्षुर्विहीन को स्वप्न में नीलादि का प्रतिभासी मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, तथैव चक्षु-इन्द्रिय के बिना स्वबीज के विपाक से अंधे में यहाँ क्यों नहीं उत्पन्न होगा?65।

तुम्हारे अनुसार स्वप्न में छठे की शक्ति का विपाक होता है, जाग्रत अवस्था में नहीं, छठे की शक्ति का विपाक यहाँ नहीं होता है, उसी प्रकार स्वप्न में नहीं होता, यह कैसे युक्त नहीं है?66।

जिस प्रकार चक्षु न होना इस का हेतु नहीं है, स्वप्न में भी निद्रा हेतु नहीं है, इसलिए स्वप्न में भी उस वस्तु एवं चक्षु को मिथ्या विषयी के अवबोध के हेतु के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।67।

विज्ञानवादी मत के निषेध में आगम बाधा न होना

इस(चित्तमात्रवादी) के द्वारा जो-जो उत्तर दिया गया है, उस-उसको प्रतिज्ञा के तुल्य देखने के कारण इस विवाद का निराकरण करने वाले बुद्धों ने कहीं भी, भावों की विद्यमानता की देशना नहीं की।68

योगी गुरु के अववाद से कंकाल से परिपूर्ण पृथ्वी-प्रदेश को देखते हैं, वहाँ भी(वे)तीनों (विषय, इन्द्रिय, विज्ञान)को उत्पादरहित देखते हैं, विपर्यास मनसिकार की देशना के कारण हैं।69।

जिस प्रकार तुम्हारी इन्द्रिय बुद्धि के विषय हैं, यदि वैसे चित्त के अप्रिय भी हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विषय में बुद्धि लगाने पर इतर द्वारा भी, अवबोध हो जायेगा, वह तो मिथ्या भी नहीं होगा।70।

तिमिरयुक्त इन्द्रिय वाले के समान बहती हुई, नदी में पीप जल को देखने वाली प्रेत-बुद्धि को भी संक्षेप में, जैसे ज्ञेय का अभाव है, वैसे बुद्धि का भी अभाव है-इस अर्थ को जानें।71।

परतंत्र-निष्पादन स्वसंवेदन का निषेध

यदि ग्राह्याभाव एवं ग्राहकाभाव अर्थात् दोनों से शून्य परतंत्रभाव की सत्ता है तो इस(परतंत्र) की विद्यमानता किससे जानी जायेगी? वह(परतंत्र) अग्राह्य होते हुए भी सत् है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है।72।

उसी (स्वसंवेदन) के द्वारा उस(विज्ञान) का अनुभव सिद्ध नहीं है, यदि स्वभावतः स्मृति से सिद्ध हो, तो असिद्ध(स्वसंवेदन) को सिद्ध किये जाने के लिए अभिधान की जाने वाली, यह असिद्धि स्मृति तो(स्वसंवेदन का) साधक नहीं है।73।

स्वसंवेदन तो सिद्ध है, प्राप्त है, फिर भी स्मृति द्वारा स्मरण युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि भिन्न हैं, अज्ञात संतान में उत्पन्न की भांति इस हेतु द्वारा(स्वलक्षण उन दोनों का हेतु-फल होना तथा एक संतति में होना आदि) विशेषण नष्ट हो जाते हैं।74।

स्वसंवेदन के अभाव में स्मृति का उत्पाद

क्योंकि जिस(विषयी विज्ञान) ने विषय का अनुभव किया, उससे यह अन्य(स्वलक्षणतः भिन्न) स्मृति मुझ में नहीं है, इसलिए मैंने(विषय) देखा, ऐसी जो स्मृति होती है, यह भी लोक व्यवहार के नियमानुसार ही है।75।

अन्य युक्ति से स्वसंवेदन का निषेध

यदि स्वसंवेदन नहीं है, तो तुम(चित्तमात्रवादी) परतंत्र का ग्रहण कैसे करोगे? कर्ता, कर्म एवं क्रिया के एक न होने से उसी(विज्ञान) से उस(विज्ञान) का ग्रहण युक्तियुक्त नहीं है।76।

स्वभावतः सिद्ध परतंत्र का बंध्यापुत्र सदृश कथन

यदि अज्ञात है और अज्ञानात्मक परतंत्र स्वरूप भाव विद्यमान है, तब जिससे इसकी सत्ता नहीं जानी जाती है, उस बंध्यापुत्र द्वारा अन्य(विज्ञानवादी) में क्या हो=हानि होगी? 77।

विज्ञानवादी मत में दोनों सत्यों से हानि

जब परतंत्र किंचिद् मात्र भी विद्यमान नहीं है, सांवृतिक हेतु क्या होगा? पर के अनुसार द्रव्य(परतंत्र) के प्रति आसक्ति से समस्त लोकप्रसिद्ध व्यवस्थाएं विनिष्ट हो जाएगी।78।

आचार्य नागार्जुन के मत की युक्तता

नागार्जुन के मार्ग(सत्यद्वय) से तो बाह्यभूतों(वस्तुवादियों) के लिए शम का कोई उपाय नहीं है, वे(विज्ञानवादी) संवृति एवं तत्त्व(परमार्थ) सत्य से उपहत(भ्रष्ट) हैं,उनसे उपहत होने के कारण निर्वाण सिद्ध नहीं होता है।79।

व्यवहारसत्य उपाययुक्त है, परमार्थसत्य उपेयभूत है,जो इन दोनों के विभेद को नहीं जानता है, वह तो मिथ्या विकल्प से कुमार्ग में प्रविष्ट है।80।

परतंत्र एवं लोकव्यवहार के निषेध में असमानता

तुम(विज्ञानवादी) परतंत्र को भाव(द्रव्यसत्) मानते हो,उस प्रकार की संवृति भी मैं(माध्यमिक)नहीं मानता हूँ, फलतः इन(सांवृतिक धर्मों) के(स्वभावतः) ने होने पर भी(लोक की अपेक्षा से ये) विद्यमान होते हैं,ऐसा लोक की दृष्टि से मैं कहता हूँ।81।

जिस प्रकार स्कंधों का प्रहाण करके शांति में अवस्थित होने से अर्हतों में(सांवृतिक धर्मों की स्वभाव) सत्ता नहीं होती है,वैसे लोक में भी नहीं होती है, ऐसा मैं नहीं कहता हूँ।82।

यदि तुम(विज्ञानवादी) को लोक की बाधा नहीं होती है, तो लोक ही की अपेक्षा से इन(संवृति) का निषेध करो। अतः तुम और लोक इस(संवृति के सत् एवं असत्) पर विवाद करें, अनंतर बलवान(विजयी) को मेरे द्वारा सेवन किया जायेगा।83।

‘मात्र’ शब्द द्वारा बाह्यार्थ का निषेध नहीं

अभिमुखी में अभिमुख बोधिसत्व तीनों धातुओं को विज्ञप्तिमात्र में अधिगत करता है,नित्य आत्मा एवं कर्ता के प्रतिषेध का ज्ञान होने के कारण वह कर्ता को तो चित्तमात्र समझता है।84।

बुद्धिमान(छठीभूमि के बोधिसत्व) की बुद्धि के विकासर्थ लंकावतारसूत्र में सर्वज्ञ ने उच्च पर्वतसम तैर्थिक-मत विनाशक वाक्स्वरूप इस वज्रवचन के अभिप्राय को स्पष्ट करने हेतु कहा है।85।

जैसे तैर्थिकों ने स्वकीय उन-उन शास्त्रों में इन पुद्गल आदि को कहा है, उन्हें कर्ता के रूप में न देखकर जिन(बुद्ध) ने चित्तमात्र को लोक के कर्ता के रूप में कहा है।86।

जिस प्रकार तत्त्व के पुष्ट होने पर बुद्ध कहा जाता है,उसी प्रकार चित्तमात्र प्रधानभूत लोक के लिए सूत्र में चित्तमात्र ऐसा कहा गया है,यहाँ रूप का निषेध किया जाना सूत्र का तात्पर्य नहीं है।87।

यदि इन्हें(तीनों लोकों को)चित्तमात्र है,ऐसा जानकर उस(मात्र शब्द) से रूप का ही निषेध करते हैं, तो पुनः उस(दसभूमि) सूत्र से बुद्ध ने चित्त को मोहकर्म से उत्पन्न किस कारण कहा है।88।

चित्त ही के द्वारा तो अत्यंत विविध सत्त्वलोक और भाजनलोक का व्यूहन किया जाता है, अशेष (समस्त)गतियों कर्म से उत्पन्न कही गयी है, चित्त के प्रहाण से तो कर्म भी नहीं होता है।89।

यदि रूप विद्यमान है तो उसमें चित्तवत् कर्तृत्व(प्रधान) नहीं होता है, चित्त से भिन्न कर्ता का निवारण किया गया है,रूप का तो निषेध नहीं किया है।90।

लौकिक व्यवहार में स्थित होते समय वहां लोक में प्रसिद्ध पाँचों स्कन्ध विद्यमान होते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञान का उदय होने पर योगी में इन पाँचों का उत्पाद नहीं होता है।91।

रूप के अभाव में चित्त की सत्ता का ग्रहण न करें, चित्त की सत्ता होने पर भी रूप का अभाव ग्रहण न करें,उन(दोनों) का प्रज्ञापारमिता(सूत्र) में भगवान बुद्ध ने समान रूप से त्याग(निषेध) किया है और अभिधर्म में(उसकी सत्ता को) कहा है।92।

सत्यद्वय के इन क्रमों को खण्डित क्र देने पर भी, तुम्हारा(परतंत्र लक्षण) द्रव्य(सत्) निषिद्ध हो जाता है, अतः(वह) सिद्ध नहीं होगा, अतः इस क्रम से वस्तुओं को आदि से तत्त्वतः(परमार्थतः) अनुत्पन्न एवं लोक(व्यवहार) में उत्पन्न जानना चाहिए।93।

जिस(लंकावतार) सूत्र के अनुसार बाह्य का प्रतिभास नहीं होता है,चित्त ही विविध रूप में प्रतिभासित होता है,ऐसा कहा है, जो लोग रूप में अत्यंत आसक्त हैं,उनके लिए रूप की निवृत्ति की है,वह भी नेयार्थ ही है।94।

यह(लंकावतारसूत्र)तो नेयार्थ ही है,ऐसा शास्ता ने कहा, यह तो नेयार्थ ही है,ऐसा युक्तिसंगत भी है इस प्रकार के अन्य(सन्धिनिर्मोचन)सूत्र भी नेयार्थ ही है,ऐसा इसी आगम से स्पष्ट हो जाता है।95

ज्ञेय के अभाव में ज्ञान का निराकरण किया जाना तो सुगम है,ऐसा बुद्धों ने कहा है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान का निराकरण सिद्ध है,अतः पहले ज्ञेय का निषेध किया गया है।96।

इस प्रकार आगम के इतिहास को जानकर जो सूत्र अतत्त्व की व्याख्या करने वाले हैं,कथन नेयार्थ के रूप में किया गया,ऐसा अवबोध करके(विनेयों का) उद्धार करना चाहिए, शून्यता अर्थ से युक्त(सूत्र) को नीतार्थ जानना चाहिए।97।

उभयतः उत्पाद का निषेध

उभयतः उत्पाद भी युक्तियुक्त स्वभाव नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त वे(समस्त) दोष(स्वयं के) ऊपर आ जाते हैं। यह लोक में तथा तत्त्वतः(परमार्थ में) भी मान्य नहीं हैं। क्योंकि एक-एक से भी उत्पाद सिद्ध नहीं है।⁹⁸

अहेतुतः उत्पाद का निषेध

यदि विना हेतु के उत्पाद मानते हो, तब समस्त(कार्यों) का सर्वदा सबसे उत्पाद हो जायेगा और फलोत्पत्ति के लिए इस लोक द्वारा बीज आदि का तो सैकड़ों(उपायों) द्वारा भी संग्रह नहीं होगा।⁹⁹

यदि जगत हेतु से शून्य होगा, तो आकाश-उत्पल के वर्ण एवं गंध की भांति ग्राह्य नहीं होगा। अत्यंत विचित्र लोक का ग्रहण भी करते हो, स्वबुद्धिवत्(के उत्पाद) को हेतुओं से होना जानें।¹⁰⁰

जिस स्वभाव से वे महाभूत तुम्हारी बुद्धि के विषय हो गये हैं, यदि(वे) उस स्वभाव के नहीं हैं, तो जिस(चार्वाक) में यही चित्त में इतना घना अंधकार है, तब उसके द्वारा परलोक का सम्यग् अधिगम कैसे होगा।¹⁰¹

परलोक क निषेध करते समय(चार्वाक) स्वयं को ज्ञेय स्वभाव को विपरीततया देखने वाला जानें, क्योंकि उसके दृष्टि-स्वरूप सदृश आश्रय कायवान ही है। जब(महा) भूतों की स्वभाविक सत्ता को स्वीकार करते हैं, (तब) उसी भांति(अन्य में भी मानना पड़ेगा)।¹⁰²

जैसे वे महाभूत असत् हैं, वैसा कहा जा चुका है, क्योंकि पूर्व में स्वतः, परतः तथा उभयतः उत्पाद एवं अहेतुक का सामान्य रूप से निषेध किया जा चुका है, अतः(ऊपर) अनुक्त इन(चारों) भूतों की बात ही क्या है? अर्थात् वे सत् नहीं हैं।¹⁰³

चतुष्कोटिक उत्पाद के निषेध में विवाद का परिहार

क्योंकि स्वतः, परतः एवं उभयतः उत्पाद तथा हेतु-निरपेक्ष न होने के कारण भाव स्वभावरहित हैं। क्योंकि लोक में मेघ-समूह के तुल्य घना अंधकार विद्यमान है, इसलिए(रूपादि)विषय मिथ्या रूप में प्रतीत होते हैं।¹⁰⁴

जैसे तिमिरोग के प्रभाव से कोई केशोण्डुक, द्विचन्द्र तथा मयूर का वर्ण-वैचित्र्य तथा मक्षिका आदि का मिथ्या ग्रहण करता है, उसी प्रकार मोह-दोष के अधिकार से अबुध व्यक्ति विविध बुद्धि द्वारा संस्कृत(धर्मों) को जानता है।¹⁰⁵

यदि मोह(अविद्या) के आश्रय से कर्म का उत्पाद होता है और मोह के अभाव में उत्पाद नहीं होता है, ऐसा जो कहा है(वह) केवल मूर्खजन ही नियत रूप में अवबोध करते हैं,सूर्य द्वारा घने अंधकार को भलीभांति निराकरण किये जाने की भांति सुमति(बोधिसत्त्व) विद्वजन तो शून्यता का बोधकर विमुक्त होते हैं।106।

यदि वस्तुएं परमार्थतः असत् हैं, तो व्यवहार में भी बंध्यापुत्र की भांति उनका अभाव हो जायेगा, इसलिए(संवृति में) वे स्वभाव से तो विद्यमान ही हैं।107।

जो केशोण्डुक आदि तैमिरिक आदि के विषय हो गए हैं,उन(वस्तुओं) का(परमार्थतः) उत्पाद न होने के कारण पहले उन्हीं के बारे में विवाद किया जाना चाहिए और पश्चात् अविद्या रूपी तिमिर का अनुबंधन किया जाना चाहिए।108।

यदि स्वप्न,गन्धर्वनगर सहित मरीचिका का जल,इंद्रजाल,प्रतिबिम्ब आदि का अनुत्पाद देखने पर उनकी अविद्यामानता समान होने पर भी तुम्हारे(विज्ञानवादी) लिए वहाँ(स्वप्न आदि में) कैसे होगा,क्योंकि वह(बंध्यापुत्र के समान)अयुक्त है।109।

जैसे तत्त्वतः इन(रूप आदि) का अनुत्पाद होता है, फिर भी(व्यवहार में वे) बंध्यापुत्र की भांति नहीं हैं, जो लोक के दर्शन का गोचर नहीं है। इस कारण आपका यह कहना अनियत है।110।

बंध्यापुत्र का अपना स्वयं का उत्पाद न परमार्थतः होता है, न व्यवहार में, उसी प्रकार से समस्त भाव स्वभावतया लोकतः(संवृतिः) और परमार्थतः अनुत्पन्न हैं।111।

इसलिए शास्ता ने सभी धर्मों को इस प्रकार,आदितः शान्त(शून्यता),उत्पादरहित एवं स्वभाव से परिनिर्वृत कहा है,अतः सदैव(परमार्थतः)उत्पाद नहीं होता है।112।

घट आदि जो परमार्थतः न होकर व्यवहार में विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार समस्त भाव होते हैं, अतः बंध्यापुत्र के सदृश होने का प्रसंग नहीं होगा।113।

प्रतीत्यसमुत्पाद-नय द्वारा अन्तग्राहरूपी मिथ्या कल्पना का निषेध

क्योंकि अहेतुक एवं ईश्वर आदि हेतुओं से और स्वतः,परतः,उभयतः भावों का उत्पाद नहीं होता है, इसलिए(प्रासंगिक मत में) प्रतीत्यसमुत्पाद नय से उत्पाद होता है।114।

वस्तुएं हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा से भली-भांति उत्पन्न हैं,अतः इन कल्पनाओं की परीक्षा नहीं की जा सकती है,इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद युक्ति कुदृष्टि के समस्त जालों को काटने वाली है।115।

भावों के विद्यमान होने पर विकल्पों की सम्भावना होगी, किन्तु जैसे भावों के अभाव का परीक्षण किया है, विना भावों के ये (विकल्प) नहीं होते हैं, जैसे इंधन के बिना अग्नि नहीं होती है।116।

प्रथमजन तो कल्पना से (संसार में) आबद्ध होते हैं, विना कल्पना के योगी मुक्त होते हैं, अतः कल्पनाओं का यह जो विपर्यस्त हो जाना है, उसे पण्डितों ने विचार का फल कहा है।117।

शास्त्र (मूलमध्यमकशास्त्र) में विचार को विवाद के प्रति लोभ से नहीं कहा गया है, अपितु विमुक्त होने के लिए तत्त्व की देशना की गयी है, यदि तत्त्व की व्याख्या किये जाते समय अन्य शास्त्र (सिद्धांत) नष्ट हो जाते हैं, तो दोष नहीं होता है।118।

जिस प्रकार स्वदृष्टि के प्रति राग तथा उसी प्रकार परदृष्टि के प्रति जो रोष होता है, कल्पना ही है, अतएव राग, द्वेष दोनों का परित्याग कर, विचार किये जाने पर शीघ्र मुक्त होते हैं।119।

युक्ति द्वारा पुद्गलनैरात्म्य की सिद्धि (स्वभावतः सिद्धि आत्मा का निषेध)

बुद्धि द्वारा समस्त अशेष क्लेशों एवं दोषों को सत्कायद्रष्टि से उत्पन्न होते देखकर, आत्मा को इस (सत्कायद्रष्टि) के विषय के रूप में अवबोध कर, योगी जन आत्मा का निषेध करते हैं।120।

तैत्तिक लोग भोक्ता, नित्यरूप, अकर्ता, निर्गुण, निष्क्रिय आत्मा की परिकल्पना करते हैं। उसके कुछ-कुछ भेद के आधार पर, तैत्तिकों के मत में भिन्नता होती है।121।

बंध्यापुत्र की भांति उत्पाद रहित होने के कारण, इस प्रकार के आत्मा की सत्ता नहीं होती है। यह तो अहंकार के आश्रय के रूप में भी युक्त नहीं है, यह तो संवृतितः भी विद्यमान नहीं माना जाता है।122।

क्योंकि अनेक (सांख्य, वैशेषिक आदि के) शास्त्रों में उसके विशेषणों की जो देशना तैत्तिकों ने की है, इन सभी में स्वयं प्रसिद्ध अनुत्पाद हेतु द्वारा बाधा होती है, इसलिए उस (आत्मा) के समस्त विशेषणों की भी सत्ता नहीं है।123।

अतएव, स्कन्ध से अतिरिक्त आत्मा नहीं है, क्योंकि स्कंधों के अतिरिक्त उसका ग्रहण सिद्ध नहीं है, (तैत्तिकों की नित्य आत्मा) लोक अहंग्राह को बुद्धि का आधार भी नहीं मानते हैं, क्योंकि वह अज्ञान और आत्मद्रष्टि की वजह से है।124।

जो अनेक कल्पों तक तिर्यग में पैदा हुए हैं,वे भी इस(आत्मा)को अजात एवं नित्य नहीं देखते हैं, किन्तु उनमें भी आत्मगाह प्रवृत्त होते दिखलाई पड़ता है,इसलिए स्कंधों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है।125।

स्वयूथ्य द्वारा प्रज्ञापित आत्मा का निषेध

स्कंधों के अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि का अभाव होने के कारण आत्मद्रष्टि का आलम्बन केवल स्कंध है, कुछ(महासम्मितीय) पाँचों स्कंधों को आत्मद्रष्टि का आधार मानते हैं, और कुछ केवल चित्त को(आधार)मानते हैं।126।

यदि स्कंध आत्मा हैं,तब स्कंधों के अनेक होने के कारण आत्मा भी अनेक हो जायेंगी, आत्मा तो द्रव्यसत् है और उसमें जो(सत्काय)द्रष्टि है(वह) द्रव्य में प्रवृत्त होने से विपरीत नहीं होगी।127

निर्वाण प्राप्त होने पर निश्चित ही आत्मा का उच्छेद हो जायेगा, निर्वाण के पूर्व क्षणों में तो उत्पाद-व्यय करने वाले कर्ता के अभाव में उसका फल नहीं होता है,(अन्यथा) अन्य द्वारा संचित कर्म(फल) का भोग अन्य द्वारा किया जायेगा।128।

यदि परमार्थतः सन्तति है,तब तो दोष नहीं है,पूर्व में विवेचना के अवसर पर सन्तति में दोष बताया जा चुका है। इस कारण स्कंध और चित्त को आत्मा(कहना) अनुचित है,क्योंकि 'लोक अन्तवान' आदि(व्याकृत) नहीं हैं।129।

अन्य बाधाएं

तुम्हारे योगी जब नैरात्म्य का दर्शन करते हैं, तब निश्चित रूप से भावों का अभाव होता है, नित्य आत्मा का प्रहाण किये जाने पर तब उसके कारण तुम्हारा(सम्मितीय का) चित्त अथवा स्कंध आत्मा नहीं होगा।130।

तुम्हारे योगी ने अनात्मा का दर्शन करते समय रूप आदि के परमार्थ का अवबोध नहीं किया, रूप का आलम्बन कर प्रवृत्त होने के कारण राग आदि का उत्पाद होगा,क्योंकि उनके स्वभाव का बोध नहीं हुआ है।131।

स्कंधों को आत्मा कहने वालों का अभिप्राय

(महासम्मितीय) क्योंकि शास्ता ने स्कंधों को आत्मा है ऐसा कहा है,इसलिए स्कंधों को यदि आत्मा मानें तो(माध्यमिक) वह तो स्कंधों से अतिरिक्त आत्मा का निषेध है,क्योंकि 'रूप आत्मा नहीं हैं' आदि अन्य सूत्रों में कहा गया है।132।

क्योंकि रूप,वेदना आत्मा नहीं है,संज्ञा भी नहीं है,संस्कार भी नहीं हैं,विज्ञान भी नहीं है, ऐसा अन्य सूत्र में कहा है,इसलिए सूत्र में निर्दिष्ट स्कंधों को आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है।133।

स्कंधों को आत्मा ऐसा कहते समय स्कंधों के समूह को कहा गया है नकि स्कंधों के स्वभाव को नाथ नहीं है,दान्त भी नहीं है और साक्षी भी नहीं है,उस के अभाव में वह समूह नहीं है।134।

तब उस अवस्था में रथ के अवयव समूह की स्थिति रथ ही है,तो रथ और आत्मा तुल्य होंगे, सूत्र में स्कंधों की अपेक्षा से कहा गया है,इसलिए स्कंधों का समूहमात्र आत्मा नहीं है।135।

यह जो आकार है वह रूपी में विद्यमान होने के कारण तुम्हारे लिए वह(आकार) ही आत्मा हो जायेगा,किन्तु चित्त आदि का समूह(चार स्कंध) तो आत्मा नहीं होता है,क्योंकि उन(चित्त समूह) में आकार नहीं होता है।136।

उपादाता स्वयं(आत्मा) एवं उपादान(स्कंध) की एकरूपता युक्त नहीं हैं,अन्यथा कर्म एवं कारक एक हो जायेंगे, कर्ता(आत्मा) के अभाव में कर्म के विद्यमान होने की बुद्धि हो,तो ऐसी बुद्धि नहीं होती क्योंकि कर्ता के अभाव में कर्म भी नहीं होता है।137।

क्योंकि मुनि ने उस आत्मा को पृथ्वी,जल,तेज, वायु, विज्ञान और आकाश-इस प्रकार छह धातु एवं चक्षु आदि संस्पर्श के छह आयतनों की अपेक्षा से(आत्मा की)उपदेशना की है।138।

चित्त एवं चैतसिक धर्मों का उद्ग्रहण कर(आत्मा को) नियत रूप से कहा है,इसलिए वह(आत्मा) उन(स्कंधों) से वही अर्थात एक नहीं है,(अन्य),समूह मात्र भी नहीं है,अतः आत्मग्राहिका बुद्धि उन(षड् धातुओं) में नहीं होती है।139।

अन्य मत की असम्बद्धता

(योगी) अनात्म-बोध होने पर नित्य आत्मा का परित्याग करते हैं,इसे आत्मग्राह का आश्रय भी नहीं मानते हैं, इसलिए नैरात्म्यज्ञान से आत्मद्रष्टि का सभी प्रकार से प्रहाण करते हैं, ऐसा जो कहा है,वह अत्यंत अद्भुत है।140।

अपने घर की दीवार के छिद्र में सर्प को स्थित देखकर,यहाँ गज नहीं है,ऐसी आशंका का निराकरण करके,सर्प के भय का भी परित्याग किया जाना तो अहो.दूसरों की हँसी का विषय होता है।141।

आधार,आधेयभाव एवं युक्त तीनों का निषेध

क्योंकि स्कंधों में आत्मा नहीं होती है,आत्मा में भी वे स्कंध नहीं होते हैं, इसलिए यहाँ अन्यत्व होने पर कल्पना भी होती है,अन्यत्व का अभाव होता है,इस कारण यह तो कल्पना मात्र है।142।

आत्मा रूपवान इष्ट नहीं है,क्योंकि आत्मा नहीं है,(स्कंधों से)मत्वर्थीय योग भी नहीं होता है, अतः गोमान(गो से) अन्य है,रूपवान(रूप से) अन्य नहीं है किन्तु आत्मा का रूप से तत्त्व(एकत्व) एवं अन्यत्व नहीं है।143।

रूप आत्मा नहीं है,आत्मा रूपवान नहीं है,रूप में आत्मा नहीं है,आत्मा में भी रूप विद्यमान नहीं है,इस प्रकार चार-चार प्रकार से सभी स्कंधों में भी जानना चाहिए,ये बीस प्रकार की आत्मद्रष्टियां मानी जाती हैं।144।

सत्कायदृष्टि रूपी गिरि का नैरात्म्यबोधक वज्र द्वारा विनाश किये जाने पर आत्मा जिसके साथ समाप्त हो जाती है,सघन सुमेरुपर्वत पर स्थित ये सत्कायदृष्टि रूपी पर्वत उन्नत शिखरभूत हैं।145

भिन्नाभिन्न रहित पुद्गल की प्रथम सत्ता का निषेध

कुछ(आत्मा एवं स्कंधों को) वही(अभिन्न),अन्य(भिन्न), नित्य अनित्य आदि के रूप में अनभिलाप्य तथा पुद्गल को द्रव्यसत मानते हैं, कुछ उस(आत्मा) को छः विज्ञानों का ज्ञेय विषय मानते हैं तथा उसे अहंकार का आधार भी मानते हैं।146।

रूप से चित्त का अनभिलाप्य बोध नहीं होता है,क्योंकि वस्तुसत है,अतः अनभिलाप्य ज्ञान नहीं होता है।यदि कोई आत्मा वस्तुरूप में सिद्ध हो जाये,तो चित्तवत सिद्ध-वस्तु होने से अनभिलाप्य नहीं होगा।147।

क्योंकि तुम्हारे(वात्सीपुत्रीय) मत में घट की भावरूप में वस्तुसत्ता सिद्ध नहीं है,अतः वह स्वभाव रूप आदि द्वारा अनभिलाप्य हो जायेगा,इसलिए जिस आत्मा का स्कंधों से(एकत्व अथवा अन्यत्व) अनभिलाप्य होगा,उसकी स्वतः सत्ता की सिद्धि का बोध नहीं जाना जायेगा।148।

(वात्सीयपुत्रीय) तुम्हारे(अनुसार) विज्ञान(द्रव्यसत) को स्वकीय आत्मा से अन्य नहीं माना जाता है,किन्तु रूप आदि से अन्य माना जाता है,क्योंकि वस्तु में वे दोनों स्वरूप देखे जाते हैं,इसलिए आत्मा नहीं होगी और वस्तु धर्म से रहित होगी।149।

प्रतीत्यसमुत्पाद-नय से आत्मा की प्रज्ञप्तिमात्रता

अतएव अहंकार का आधार वस्तु नहीं है, वह न तो स्कंधों से अन्य है, न स्कंध स्वरूप है और न ही स्कंधों का आधार है, यह तो इन(स्कंधों) से युक्त भी नहीं है, आत्मा तो स्कंधों की अपेक्षा से(प्रज्ञप्तिमात्र) सिद्ध है।150।

जिस प्रकार रथ को अपने अवयवों से अन्य नहीं माना जाता है, अनन्य(एक) भी नहीं माना जाता है, और वह उन(अवयवों) से युक्त भी नहीं है। (रथ) अवयवों में(आश्रित) नहीं है, अवयव भी उसमें(आश्रित) नहीं हैं, समूह मात्र भी नहीं हैं और आकार से युक्त भी नहीं है।151।

पूर्व में अनुक्त शेष दो पक्षों का विस्तारपूर्वक कथन

यदि समूहमात्र से रथ हो जाता है, तब विकीर्ण अवस्था में भी रथ के विद्यमान होने का प्रसंग होगा, क्योंकि अवयवों के बिना अवयव भी युक्त नहीं हैं, आकारमात्र का रथ होना भी युक्त नहीं।152

तुम्हारे(महासम्मितीय के) अनुसार जिस प्रकार प्रत्येक अवयव का आकार पूर्व में विद्यमान था, वैसे ही रथ के अंतर्गत अर्थात् संयोजन की अवस्था में भी होता है। अवयवों को अलग-अलग कर देने पर उनमें रथ उपलब्ध नहीं होता है वैसे ही सम्प्रति भी रथ विद्यमान नहीं होता है।153।

यदि सम्प्रति रथ की अवस्था में चक्र आदि से(रथ) आकार भिन्न है, तो इसका(चक्षु द्वारा) ग्रहण किये जाने पर भी विद्यमान नहीं है, अतः आकार मात्र रथ के रूप में रूप में विद्यमान नहीं है।154

क्योंकि(महासम्मितीय) तुम्हारे मत में समूह ऐसा कुछ भी न होने के कारण वह आकार अवयवों के समूह का नहीं है, तब जो कुछ भी नहीं है, उस(मिथ्या समूह) की अपेक्षा से यहाँ उसका आकार कैसे हो सकता है।155।

तुम(महासम्मितीय) जैसे इस(असत्य आकार) को मानते हो, उसी प्रकार असत्य हेतु की अपेक्षा से असत्य स्वभाव वाले समस्त फलों के आकार के उत्पाद को भी जानना चाहिए।156।

इस रथ की उपमा से रूप आदि के उस प्रकार की स्थिति को घट-बुद्धि ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है।(स्वभावतः) उत्पाद न होने से रूप आदि भी नहीं होते हैं, इसलिए भी उन(रूप आदि) का आकार युक्तियुक्त नहीं है।157।

वह(रथ) तो तत्त्वतः(परमार्थतः) अथवा लोक व्यवहार में,सात प्रकार से(परीक्षा किये जाने पर किसी प्रकार की सत्ता) सिद्ध नहीं होती है,किन्तु बिना परीक्षा के लोक व्यवहार में यह अपने अवयवों की अपेक्षा से प्रज्ञप्त होता है।158।

वही(रथ) अवयवी है,वह अंगी है,वही रथ कर्ता है, ऐसा लोक में प्राप्त होता है।लोगों के लिए वह उपादाता के रूप में सिद्ध है,लोक में प्रसिद्ध संवृति(सत्य) को नष्ट न करें।159।

जो(रथ) सात प्रकार से(परीक्षा किये जाने पर) प्राप्त नहीं होता है,वह कैसे विद्यमान है-इस प्रकार योगियों को इस(रथ) की सत्ता अप्राप्त होने के कारण वे तत्त्व(परमार्थ) में भी शीघ्रता प्रवृत्त होते हैं, अतः यहाँ उस(रथ)की सिद्धि को वैसी ही मनानी चाहिए।160।

जब रथ की सत्ता ही नहीं होती है,तब उस स्थिति में अवयवी(रथ) का अभाव होता है और उसके अवयवों का भी अभाव होता है,रथ के जल जाने पर अवयवों के न होने की उपमा की भांति बुद्धिरूपी अग्नि से अवयवी को जला देने पर अवयव भी तत्सदृश हो(जल) जाते हैं।161।

उसी भांति लोकप्रसिद्धि से स्कंध,धातु तथा उसी प्रकार षड् आयतनों की अपेक्षा से आत्मा को भी उपादाता के रूप में माना जाता है,उपादान कर्म है,यह(आत्मा) तो कर्ता भी है।162।

वस्तु की सत्ता न होने के कारण यह(आत्मा) तो नित्य है,न अनित्य है,यह तो उत्पाद एवं व्यय से रहित है।इसमें शाश्वता आदि भी नहीं है,तथा तत्त्व और अन्यत्व भी नहीं हैं।163।

जिस के प्रति सत्त्वों में सदैव अहंकार बुद्धि का उत्पाद होता है, उस(आत्मा) के जो (चक्षु आदि आयतन) हैं,उनमें जो ममकार बुद्धि होती है,वह आत्मा तो बिना परीक्षा किये(लोक) प्रसिद्धि द्वारा संमोह से(जनित) है।164।

आत्मीय की स्वभावतः सिद्धि का निषेध

कर्ता के न होने पर कर्म नहीं होता है,आत्मीय भी आत्मा के विना नहीं होता है, इसलिए आत्मा-आत्मीय को शून्य देखते हुए,वह योगी विमुक्ति को प्राप्त होता है।165।

घट,पट,कट,सेना,कानन,पंक्ति,वृक्ष,गृह,रथ,मठ आदि जो पदार्थ हैं,जिसके माध्यम से लोग व्यवहार करते हैं,उन्हें उसी प्रकार से जाना जाता है,मुनीन्द्र तो लोक के साथ विवाद नहीं करते।166।

गुण,अवयव,राग,लक्षण,ईधन आदि एवं गुणी, अवयवी,रक्त,लक्ष्य, अग्नि, आदि ये पदार्थ सात प्रकार से रथ की परीक्षा किये जाने की भांति विद्यमान नहीं हैं,किन्तु उस(परीक्षा न किये जाने) से इतरभूत लोक प्रसिद्धि के माध्यम से(प्रज्ञसमात्र) विद्यमान होते हैं।167।

यदि हेतु उत्पाद्य(फल) का उत्पाद करता है, तब वह(फल का) हेतु है और यदि फल का उत्पाद नहीं करता है,तब उस(हेतु) के अभाव में(फल) अहेतुक हो जायेगा, हेतु होने पर ही फल का उत्पाद होगा,अतः किससे कौन होता है, किसके पहले कौन होता है,बताइए?।168।

यदि तुम्हारे(अनुसार) हेतु संसर्ग से फलोत्पाद करता है,तब उस अवस्था में उन(हेतु-फल) की शक्ति एक होने से उत्पादक(हेतु) फल से अभिन्न हो जायेगा और यदि(दोनों) अलग-अलग हैं, तब इस हेतु की अहेतुओं से कोई विशेषता नहीं रहेगी।दोनों(संसर्ग-असंसर्ग) का प्रहाण कर अन्य(तीसरी) कल्पना भी नहीं होती है।169।

यदि(वस्तुवादी) तुम्हारे अनुसार हेतु फल का उत्पाद नहीं करता है,तब फल नाम की कोई सत्ता नहीं होगी,फलरहित हेतु तो अहेतु से युक्त हो जायेगा और उसकी सत्ता भी नहीं होगी।क्योंकि यह दोनों भी माया सद्रश् है,इसलिए हम पर दोष नहीं लगता है,क्योंकि लौकिक वस्तुएं भी विद्यमान होती हैं।170।

यह दूषण(हेतु) दूषणीय के संसर्ग से दूषित होता है,अथवा असंसर्ग से दूषित होता है?क्या ऐसा दोष तुम(प्रासंगिक माध्यमिक) पर भी लागू नहीं होगा? जब ऐसा (गलत) कहकर स्वपक्ष का ही नाश कर रहे हो,तब तुम(प्रासंगिक माध्यमिक) दूषणीय को दूषित करने में समर्थ नहीं हो।171।

(अरे,प्रासंगिक) क्योंकि(तुम) अपने शब्दों में भी समान प्रसंग वाले दूषणाभास से युक्ति के बिना समस्त भावों के प्रति अपवाद करते हो,इसलिए तुम(माध्यमिक) तो सज्जन सम्मत नहीं हो।क्योंकि तुम्हारा कोई स्वपक्ष नहीं है,अतः तुम बिना मत के वादी हो।172।

दूषण दूषणीय को असंसर्ग से दूषित करता है या फिर संसर्ग से,ऐसा जो कहा गया है,यह दोष यहाँ उन पर लागू होता है, जिस(वस्तुवादी) का ऐसा नियत पक्ष होता है। क्योंकि मेरा यह पक्ष है ही नहीं,अतः यह प्रसंग हम पर संभव नहीं है।173।

जिस प्रकार तुम (वस्तुवादी) सूर्यमंडल में विद्यमान विशेषणों को प्रतिबिम्ब में भी राह-ग्रहण आदि की हानि के काल में भी देखते हो,तब सूर्य और प्रतिबिम्ब दोनों का स्वरूप संसर्ग एवं असंसर्ग से होना युक्तियुक्त नहीं है, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद से व्यवहारमात्र में उत्पाद होता है।174।

असत्य होते हुए भी जैसे अपने चेहरे को सुन्दर सिद्ध करने का वह(सामर्थ्य) उस(आदर्श) में होता है,उसी प्रकार यहाँ भी प्रज्ञारूपी मुख के शोधनार्थ दृष्टशक्ति वाला हेतु तो उपपत्ति से रहित होने पर भी साध्य(शून्यता का)बोधक होता है-ऐसा जानना चाहिए।175।

यदि(माध्यमिक) अपने साध्य-बोधक हेतुओं से भावों को सिद्ध करते हैं,और वस्तुतः गम्य हो होगा,साध्यस्वभाव भी विद्यमान होगा,तब संसर्ग आदि युक्ति का उपयोग होने लगेगा किन्तु वह भी असत होने के कारण(वस्तुवादी) तुम्हें केवल खेद होगा।176।

जैसे समस्त पदार्थों के परमार्थतः बोध में सरलता से समर्थ होते हैं,वैसे स्वभावतः(सिद्ध) मानने वाले लोग दूसरों(माध्यमिकों) का सरलता से अवबोध में समर्थ नहीं होते हैं।कुतार्किक जाल से(तुम) यहाँ लोक को क्यों उकसाते हो?।176।

शेष दूषण जो(पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य के प्रसंग में) ऊपर बताये जा चुके हैं,उन्हें जानकर संसर्ग आदि पक्ष के उत्तर के लिए यहाँ(प्रसंग) दिया गया है। जैसे बिना पक्ष का परवादी भी नहीं होता है, वैसे पूर्वोक्त का इसी अवशिष्ट पक्ष द्वारा बोध करना चाहिए।178।

शून्यता-प्रभेद

यह नैरात्म्य तो सत्त्वों के विमुक्ति के लिए धर्म एवं पुद्गल के भेद से द्विविधि कहा गया है। इस प्रकार पुनः शास्ता ने इन का अनेकविध विभाजन कर विनेयजनों के लिए कहा है।179।

सप्रपंच शून्यता को सोलह प्रकार का बताकर संक्षेप में,पुनः उस(शून्यता) को चार प्रकार का बताया है,वे तो महायान में भी स्वीकार्य हैं।180।

शून्यता के सोलह भेद

क्योंकि उस(चक्षु) का वह(शून्यता) स्वभाव है, इसलिए चक्षु तो चक्षु से शून्य है, उसी प्रकार श्रोत्र,घ्राण,जिह्वा,काय तथा मन को भी कहा जाता है।181।

अकूटस्थ(अपरिवर्तनीय) होने तथा अविनाशी स्वरूप होने के कारण चक्षु आदि छह की जो निःस्वभावता है,वह तो अध्यात्म-शून्यता मानी जाती है।182।

क्योंकि उस(रूप) का वह(शून्यता) स्वभाव है, अतः रूप तो रूप से ही शून्य है। इसी प्रकार शब्द,गंध,रस,स्पर्श तथा सभी धर्म भी हैं।183।

रूप आदि की निःस्वभावता ही बहिर्धा-शून्यता के रूप में मानी जाती है। दोनों की निःस्वभावता तो अध्यात्म-बहिर्धा शून्यता है।184।

धर्मों की निःस्वभावता को ही विद्वान लोग शून्यता कहते हैं,वह शून्यता भी शून्यता-स्वभाव से शून्य स्वरूप मानी जाती है।185।

शून्यता कही जाने वाली की जो शून्यता है,वह शून्यता-शून्यता मानी जाती है।शून्यता के प्रति भाव बुद्धि वालों के ग्राह-स्वभाव की निवृत्ति के लिए कहा गया है।186।

सत्त्वलोक और भाजनलोक तो समस्त सत्त्वों को व्याप्त करने वाले हैं तथा अपरिमित द्रष्टांतों से अनंत हैं,अतः दिशाएं महान(महत्त्व) हैं।187।

इन दसों दिशाओं(की स्वभावता) द्वारा जू शून्यता है,वह महा-शून्यता है,क्योंकि महान ग्राहक(बुद्धि) के निवर्तन के लिए वह कही गयी है।188।

वह तो उत्तम प्रयोजन होने के कारण परमार्थ अर्थात् निर्वाण है,उस (निर्वाण) की उसी(निर्वाण) से जो शून्यता है,वह तो परमार्थ-शून्यता है।189।

निर्वाण के प्रति भाव बुद्धि वालों के ग्राहक(बुद्धि) के निवारणार्थ परमार्थ के ज्ञाता(बुद्ध) ने परमार्थ की शून्यता की देशना की है।190।

प्रत्ययों से उत्पन्न होने के कारण तीनों(लोक) धातुएं संस्कृत हैं, इस प्रकार निश्चित रूप से उक्त है, उस(संस्कृत) की उस(संस्कृत) से जो शून्यता है,वह संस्कृत-शून्यता कही गयी है।191।

जिसमें उत्पाद,स्थिति,अनित्यता इनका अभाव होता है, वह असंस्कृत है, उससे उसकी जो शून्यता है,वह तो असंस्कृत-शून्यता कही गयी है।192।

जिसका(कोई) अंत(शाश्वत-उच्छेद) नहीं होता है, उसे अत्यंत(अंत से अतीत) कहा जाता है, उसी से उसका शून्यत्व है, अतः अत्यंत-शून्यता कही जाती है।193।

आदि अर्थात् प्रथम, पर्यवसान अर्थात् अंत,इनके अभाव से संसार को अनवराग(आदि-अंत रहित) कहा गया है,जो गतागत से रहित होने के कारण स्वप्नवत है।194।

यह भव,जो उसी(भव) से विविक्त(शून्य) है, वह आदि एवं अंत रहित शून्यता है, ऐसा शास्त्र(मूलमाध्यमिक) में निश्चित रूप से कहा गया है।195।

अवकिरण अथवा छोरण को अवकार,ऐसा निश्चित रूप से कहा गया है,अनवकार शून्य नहीं है,अर्थात् किसी का भी उत्सर्ग न करना है।196।

उसी अनवकार द्वारा जो उसकी शून्यता है,वह इस कारण अनवकार-शून्यता है, ऐसा कहा जाता है।197।

संस्कृत आदि की स्वभावता क्योंकि शैक्षों, प्रत्येकबुद्धों, जिनपुत्रों तथा तथागतों द्वारा कृत नहीं है, इसलिए संस्कृत आदि की।198।

स्वभावता को स्वभावतया(शून्य) कहा जाता है,उसी(प्रकृति) से उस(प्रकृति) की जो शून्यता है, वह तो प्रकृति-शून्यता है।199।

अठारह धातुएं तथा षड् स्पर्श उनसे उत्पन्न छह वेदनाएं रूपी, अरूपी, उसी प्रकार संस्कृत एवं असंस्कृत धर्म।200।

अर्थात् उन समस्त धर्मों की उन्हीं से जो विविक्तता अर्थात् शून्यता है, रूपणा आदि का जो अभाव है,वह तो स्वलक्षण-शून्यता है।201।

रूप रूपणा-लक्षण है,वेदना अनुभव स्वाभावात्मक है, संज्ञा निमित्तग्राही है तथा संस्कार अभिसंस्कर्ता है।202।

प्रत्येक विषय की प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान का स्वलक्षण है,स्कंधों का स्वलक्षण दुःख तथा धातुओं का स्वरूप अर्थात् स्वलक्षण तो विषधर सर्प माना जाता है।203।

बुद्ध ने आयतनों को उत्पाद का(चित्त-चैतसिकों का आयतन) द्वारभूत कहा है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद है,वह तो(हेतु-प्रत्यय का) संग्रह अथवा संयोग(सामग्री प्राप्य) लक्षण वाला है।204।

दान पारमिता है,शील(क्लेशों से) तापरहित लक्षण वाला,क्षान्ति कोपरहित लक्षण वाली तथा वीर्य लक्षण वाला है।205।

ध्यान संग्रह लक्षण वाला है, प्रज्ञा असंग(रागरहित) लक्षण है, ये पारमिताओं के छह लक्षण कहे गये हैं।206।

(चार)ध्यान एवं(चार)अप्रमाण उसी प्रकार अन्य जो(चार) अरूप हैं,उन्हें सम्यग् ज्ञाता ने अकोप-लक्षण के रूप में कहा है।207।

सैंतीस बोधिपाक्षिक(धर्म) होते हैं, जो नैर्याणिक स्वलक्षण वाले हैं,शून्यता का लक्षण तो अनुपलम्भ होने से विविक्तता है।208।

अनिमित्त शांत ही है,तृतीय(अप्रणिहित) का लक्षण दुःख एवं असंमोह है,विमोक्षों का लक्षण विमुक्त करना है।209।

बलों को अत्यन्त सुनिश्चित स्वरूप कहा गया है,त्राण करने वाले वैशारद(चार) तो सुप्रतिष्ठित स्वभाव वाले होते हैं।210।

प्रतिसंविद(धर्म,अर्थ,निरुक्ति तथा) प्रतिभान आदि अविच्छिन्न लक्षण वाले हैं, जगत के हित का संपादन करना महामैत्री कहा जाता है।211।

दुःखी जनों का परित्राण करना महाकरुणा है,मुदिता तो प्रमोद लक्षण,उपेक्षा तो आवेणिक(अमिश्रित) लक्षण से युक्त कहा जाता है।212।

बुद्ध के जो दस और आठ(अठारह) आवेणिक धर्म माने जाते हैं, उन्हें क्योंकि शास्ता ने असंहार्य स्वलक्षण वाले हैं।213।

सर्वाकारज्ञता ज्ञान को प्रत्यक्ष लक्षण वाला माना जाता है।अन्य(श्रावक,प्रत्येकबुद्ध,बोधिसत्व का ज्ञान) तो प्रादेशिक होने से प्रत्यक्ष,ऐसा नहीं माना जाता है।214।

जो संस्कृत(धर्मो) का लक्षण है तथा जो असंस्कृत का लक्षण है, उनको केवल उन्हीं से जो शून्यत्व है, वह तो स्वलक्षण शून्यता है।215।

यह दूसरे क्षण में स्थित नहीं है, अतीत और अनागत भी विद्यमान नहीं है, जहाँ(तीनों कालों में) वे उपलब्ध नहीं हैं, उसे अनुपलम्भ-ऐसा कहा जाता है।216।

वह अनुपलम्भ जो अपने उस स्वभाव से विविक्त है, वह अकूटस्थ तथा अविनाशी होने के कारण अनुपलम्भ-ऐसी कही जाने वाली शून्यता है।217।

प्रत्ययों से उत्पाद होने के कारण भावों(समूह) के संग्रहकर्ता का(स्वभावतः) स्वरूप(प्राप्त) नहीं होता है, संग्राहक(हेतु-प्रत्ययों) का जो उन्हीं से शून्यता(है, वह) अभाव-शून्यता है।218।

शून्यता के चार अन्य प्रभेद

‘भाव’इस शब्द द्वारा संक्षेप में पाँचों स्कंधों का अभिधान किया गया है, उन(स्कंधों) की उन्हीं से जो शून्यता है, वह भाव शून्यता कही गयी है।219।

संक्षेपतः अभावअसंस्कृत धर्मो को कहा जाता है। उस(अभाव) का उसी अभाव से जो शून्यत्व है, वह अभाव-शून्यता(कही जाती) है।220।

प्रकृति से निःस्वभावता तो स्वभाव नामक शून्यता है, इस प्रकार प्रकृति कृत नहीं है, अतएव, स्वभाव(शून्यता) कही जाती है।221।

भावतः बुद्धों का उत्पाद हो अथवा न हो, सभी भावों की शून्यता परभाव के रूप में प्रसिद्ध है।222

भूतकोटि तथा तथता दोनों परभाव-शून्यता है, प्रज्ञापारमिता नय(की देशना करने वाले सूत्रों) में ये(बीस शून्यतायें) उक्त प्रकार से प्रसिद्ध हैं।223।

भूमि गुणाभिधान द्वारा उपसंहार

इस प्रकार बुद्धिरूपी किरणों से आलोक को स्पष्ट किया है, स्वहस्तगत आंवलै(हस्तामलक) की भांति इन समस्त तीनों लोकों को आदितः अनुत्पाद के रूप में अवबोध कर व्यवहार-सत्य के बल से निरोध(समाप्ति) में गमन करता है।224।

सदैव निरोध समाप्तिगत आशय से युक्त है तथा अनाथ सत्त्वों के लिए करुणा का भी उत्पाद करता है,(यह) इस (छठी भूमि) के उत्तर(सातवीं भूमि) में सुगत वचन से उद्धत मध्यम बुद्ध(प्रत्येकबुद्धों) सहित सकल(श्रावकों)को बुद्धि से पराजित करने वाला भी है।225।

संवृत्ति और परमार्थ रूपी विशाल एवं विकसित शुभ पंखों वाला,(विनेय) जनरूपी हंसों द्वारा सामने किया गया(सम्मानित) वह हंसराज(छठी भूमि का बोधिसत्व) तो शुभ पवन-वेग के बल से जिन(बुद्ध) के गुणों वाले समुद्र के पार शीघ्र गमन करता है।226।

॥मध्यमकावतार भाष्य का छठा चित्तोत्पाद समाप्त॥

